(सन्देश १८) - नवम्बर 2011 का द्वितीय पाक्षिक निवेदन -

"यज्ञ-शेष"

पंक्ति संख्या

श्रीमद्भगवद्गीता में दो स्थानों पर यज्ञ-शेष का उल्लेख है -

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।
अर्थात् *'यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपना शरीर-पोषण करने के लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं'।। (३/१३)*

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।। ५
अर्थात् *'हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। और यज्ञ-रहित पुरुष के लिये तो यह मनुष्य लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक होगा?'।। (४/३१)*

ये दोनों श्लोक मनुष्य जीवन के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ न कुछ कर्म तो सभी लोग करते हैं किन्तु वह व्यक्ति ही बुद्धिमान् है जो उन कर्मों के फल से बँधता नहीं है, अपितु मुक्त होकर जो भगवान् १०
के असीम स्वरूप से एकरूप हो जाता है। सभी न्याय-संगत और धर्म-संगत कर्मों को लगाव-रहित तथा भगवान् की शक्ति से समतापूर्वक, केवल भगवान् की प्रीति के लिये, और संसार के रूप में व्यक्त हुए भगवान् को ही उन कर्मों का फल समर्पित कर देने से, वे सब कर्म 'यज्ञ'-रूप हो जाते हैं। इसका उदाहरण निम्नलिखित है -

एक व्यक्ति बैंक में कैशियर है। प्रतिदिन कार्य-आरम्भ से पहले, बैंक से उसे करोड़ों रूपया दिया १५
जाता है। उस धन का उपयोग वह केवल बैंक के ग्राहकों को बिना किसी भेदभाव के नियमपूर्वक देने के लिये करता है। स्थूल रूप से उसका यही कर्म 'यज्ञ' कहा जा सकता है। परिणामस्वरूप उसे बैंक से वेतन मिलता है, जो ग्राहकों के लिये दी गयी कुल धनराशि का एक अत्यन्त क्षुद्र अंश है। ठीक-ठीक काम करने पर कालान्तर में उसे बोनस, पारितोषिक (वेतन-वृद्धि), कार्य करने की अधिक सुविधाएँ, पदोन्नति आदि मिलते हैं। स्थूल रूप से हम इसे यज्ञ-शेष अर्थात् बैंक द्वारा दिया गया 'प्रसाद' (प्रसन्नता) समझ सकते २०
हैं। इसके विपरीत, वितरण के लिये दिये गये धन में हेर-फेर करने से वह घोर दण्ड का भागी होता है, जिसे गीता - ४/३१ में मनुष्य लोक में या परलोक में सुखदायक न होना बताया गया है।

गीता - ३/१३ में प्रयुक्त **'ये पचन्त्यात्मकारणात्'** पद से केवल भोजन पकाने का अर्थ ही नहीं ग्रहण करना चाहिये, अपितु इस उपलक्षण से इन्द्रियों के द्वारा भोगे जाने वाले समस्त भोगों को समझना चाहिये। शरीर और इन्द्रियों से जितनी भी क्रियायें होती हैं और जिनका फल केवल अपने या अपनों के २५
द्वारा सुख-भोग या शौकीनी के लिये ही ग्रहण किया जाता है, उन सभी कर्मफलों के भोग को पापी लोगों द्वारा पाप को ही खाया जाने वाला समझना चाहिये। अपने और अपनों के शरीर-पोषण के लिये केवल उतना ही उपयोग किया जाना चाहिये जितना भगवान् का काम करने के लिये आवश्यक हो।

मनुष्य-योनि में जन्म प्राप्त होने का यह कितना महान् सौभाग्य है कि मनुष्य यदि चाहे तो केवल यज्ञ-शेष ग्रहण करने से उसका यह जन्म अन्तिम जन्म होकर उसे इसी जन्म में भगवत्प्राप्ति करा देने के ३०
लिये पूर्ण रूप से समर्थ है। इसके विपरीत, यह कितना महान् दुर्भाग्य होगा यदि वह इसका दुरुपयोग अपने स्वार्थ के लिये करके इसी लोक में भाँति-भाँति के क्लेश भोगता रहे और अपने को भविष्य में आसुरी योनियों में ही गिरने की व्यवस्था कर ले (गीता १६/१९)।

निष्कर्ष - मनुष्य-जन्म में सब विहित कर्मों को यज्ञ-कर्म के रूप में करने की सुविधा भगवान् द्वारा प्रतिक्षण दी जाती है (गीता ५/२९)। भगवान् की भक्ति द्वारा केवल समर्पण-बुद्धि से प्रत्येक कर्म को ३५
नाम-जप के साथ करने से यह सुगमतापूर्वक सम्भव हो जाता है (गीता ८/७ तथा ८/१४)।